International Journal of Applied Research 2016; 2(1): 1008-1009

ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 5.2
IJAR 2016; 2(1): 1008-1009
www.allresearchjournal.com
Received: 17-11-2015
Accepted: 26-12-2015

डॉ. आशा उपाध्याय
से. मु. मा. राज. कन्या महाविद्यालय, भीलवाड़ा, राजस्थान, भारत

Corresponding Author:
डॉ. आशा उपाध्याय
से. मु. मा. राज. कन्या महाविद्यालय, भीलवाड़ा, राजस्थान, भारत

भगवद्गीता में वर्णित वर्ण व्यवस्था

डॉ. आशा उपाध्याय

प्रस्तावनाः
महापुरुष योगेश्वर श्रीकृष्ण की वाणी श्रीमदभगवदगीता की वर्णव्यवस्था को समझने के लिए गीतोक्त कर्म को जानना आवश्यक है। गीता के अनुसार यज्ञ और कर्म एक दूसरे के पूरक है। यज्ञ को क्रिया रूप में लाना कर्म कहलाता है। दूसरे शब्दों में यज्ञ के आचरण को कर्म कहते है–

ज्ञार्थात्भूतिकर्मणो ऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थ कर्म कौन्तेय मुक्तसंगरू समाचरः।।[1]

वस्तुतः यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है इसके अतिरिक्त जो कुछ किया जाता है वह कर्म नहीं, जीवों के बन्धन का कारण है। गीता जिसे कर्म कहती है वह अमरत्व की प्राप्ति कराने वाला, पूर्ण कल्याण करने वाला है। गीतोक्त कर्म आराधना अथवा भजन की पर्याय मात्र है इसी कर्म को चार क्रमिक सोपानों में विभाजित किया गया जिसे श्रीकृष्ण ने "वर्ण" नाम से पुकारा। वर्ण का शाब्दिक अर्थ रूप रंग आकृति होता है। अध्ययनकर्ता जिस श्रेणी का होता है उसका हावभाव उसकी आकृति उसी स्तर के अनुरूप होती है। उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट योनियों की प्रगति मानसिक स्तर से निर्धारित होती है अतः मनःस्थिति ही आकृति का निर्धारिक है। स्पष्ट शब्दों में मन की स्थिति ही आकृति है।
श्रीकृष्ण का कथन है कि

चातुर्वर्ण्य मया सृष्टम् गुण धर्म विभागषः।[2]

चार वर्णों की रचना मैंने को। मनुष्य को नही बल्कि कर्म को का चार भागों में बांटा है। गुणों के उतार–चढ़ाव से कर्म को चार भागों में बांटा है। अतः मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रियनहीं है बल्कि यह विभाजन गुण व कर्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शुद्र के रूप में किया गया। गुण तीन है किन्तु वर्ण चार है अतः समान अनुपात में दो गुणों के मिश्रण से एक अधिक वर्ण का सृजन स्वाभाविक है व्यवहार में जिस व्यक्ति में केवल सात्विक है उसे ब्राह्मण आधा सात्विक आधा राजसिक गुण वाले को क्षत्रिय, आधा राजसी व आधा तामसिक वाले को वैश्य तथा मात्र तामसिक गुण वाले को शूद्र कहा जाता है।

ब्राह्मण : जिस पर सात्त्विक गुण का प्रभाव है, जो ब्राह्मण है, उसका मन स्वभावतः शान्त होगा। अन्तःकरण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, बाह्यान्तर की शुद्धता, क्षमा, तप, सरलता, ज्ञान, विज्ञान, ईश्वरीय जानकारी की मस्ती इत्यादि उसमें स्वभाव से ही रहेगा। जिसके अन्तःकरण में सात्त्विक गुण मात्र है, जिनमें राजसी एवं तामसी गुण कार्यरत नहीं हैं उस पुरुष में सात्त्विक गुणों के कार्य ज्ञान, विज्ञान, ध्यान इत्यादि ब्रह्म–लक्षण स्वाभाविक रहेंगे। ब्राह्मण अथवा उच्चकोटि के साधक के लिए यही करना विधेय है। ऐसा करने में ही उसका कल्याण है।

क्षत्रिय : जिसके अन्तःकरण में तामसी गुणों का पूर्णतः अभाव है, राजसी गुण भी आधा शान्त हो चुका है परन्तु सात्विक गुण पूरा नहीं मिला ऐसा अति उत्तम तो नहीं, उत्तम साधक क्षत्रिय वर्ण का है। ऐसा साधक शुरवीर होता है, माया की चपत से कायर नहीं होता है। आसुरी वृत्तियों से युद्ध करने में कभी पलायन नहीं करता। उसमें ईश्वर भाव अर्थात् स्वामीभाव बना रहता है क्योंकि भजन की बाबाओं पर विजय प्राप्त करने में उसे दृढ़ विश्वास रहता है आत्म–प्रकाश का तेज, धैर्य, दक्षता, दान इत्यादि क्षत्री के लक्षण है। राजसी और सात्विक गुण का आधा–आधा मिश्रण जब कार्यरत होता है तब यह लक्षण स्वतः बन जाता है। इन गुणों के सम्मिश्रण के बिना बलात् कोई क्षत्रिय नहीं बन सकता क्योंकि इन लक्षणों की जड़ तो स्वभाव है, जो गुणों से निर्धारित होता है।

इसीलिए श्रीकृष्ण "क्षात्रकर्म स्वभावजम्"[3] कहते हैं, अर्थात् उपर्युक्त लक्षण स्वभावस्थ है, आदत का अंग बन चुके हैं। इसलिए क्षत्रिय के कर्म को भी स्वभाव ने जन्म दिया।

वैश्य : जिसके अन्तःकरण में आधा तामसी और आधा राजसी गुण होता है वह है वैश्य है। ऐसे व्यक्ति के भजन– पथ से आधा तमस् हट चुका है, अर्धरज से पथ आलोकित है। अतः कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ऐसे साधक के लिए स्वाभाविक कर्म हैं। "राम नाम धन खेती"– आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। इसी का उपार्जन करना ही खेती है। श्गोश इन्द्रियों को कहते है अतः गो–रक्षा का तात्पर्य इन्द्रियों की रक्षा है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विषयों में इन्द्रियों का विचरना ही उनका नष्ट होना है। ज्ञान–विज्ञान, विवेक वैराग्य से उनकी रक्षा होती है। आत्मिक सम्पत्ति का अपव्यय नहीं होने पाता। आत्मिक सम्पत्ति को विषयों में न खोकर उनका संग्रह करना ही धन कमाना है। माया इस संग्रह में बाधक है वह इस आत्मिक सम्पत्ति को क्षीण करती रहती है। घाटा दिलाती रहती है। इसलिये भजन भी एक प्रकार का व्यवसाय है, जिससे आत्मिक सम्पत्ति का संवर्द्धन करना वैश्य का स्वभाव माना गया है। आत्मिक सम्पत्ति को अपने में ढालना ही पूंजी का संग्रह है। यही सत्य व्यापार है जो निज धन की प्राप्ति करानेवाला है। ऐसे पुरुष का मन साधना में लगने लगता है।

शूद्र : भजन की सबसे क्षुद्र सोपान शूद्र है जो उन व्यक्तियों में पाया जाता है जिनके अन्तःकरण में तामसी गुण कार्यरत रहते हैं, राजसी गुण की क्षीण रेखा ही रहती है। व्यक्ति के मन में प्रमाद और आलस्य विशेष होगा। प्रयत्न करने पर भी उसका मन स्थिर नहीं रह सकेगा। सत्य वस्तु को समझने की क्षमता भी उसमें नहीं होगी। उसका मन तमस् से पूर्णतः आच्छादित होने के कारण अपने लक्ष्य को नहीं देख पाता। आराधना में मन लगता ही नहीं। कर्म के क्षेत्र में उसका स्थान तुच्छ होता है। अतः शूद्र स्वभाववाले व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने निजी उत्थान के लिए महापुरुषों की सेवा करे– "परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।[4]

जो महापुरुष अपने से बहुत ऊपर उठ चुके हैं, उनको पकड़े। उनकी शरण होकर तन–मन–वचन से सेवा करने का विधान है। सेवा–धर्म परम गहन है। सेवक किसी भी सेवा को तुच्छ नहीं समझता। वह कभी यह तर्क नहीं करता कि बिस्तर झाड़ू क्यों लगाऊँ या टट्टी क्यों साफ करूँ? वस्तुतः जो महापुरुष पवित्र हो चुके हैं, उनके सान्निध्य से ही गृह स्तर के साधक का मन दूर हो सकेगा। इसी सेवा में ही उसे आगेवाली श्रेणी प्राप्त हो सकेगी, वह वैश्य गुणधर्म को पकड़ सकेगा। उसमें जो योग्यता नहीं थी, वह भी आ जायेगी।

इस प्रकार गुणों के उतार–चढ़ाव से कर्म के चार विभाजन किये गये। जिसे का निकटवती अनुभव है, प्रवेश करना ही शेष है, जिसके पश्चात् कर्म की आवश्यकता ही नहीं रहती, ऐसे सत्वगुण से संचालित, ज्ञान, विज्ञान, ध्यान और समाधि की अवस्था जिसमें स्वभाव से है वह ब्राह्मण है। श्श काटने को तथा श्श्रीश तीन को कहते हैं। तीनों गुणों को काटने की जिसमें क्षमता है यह क्षत्रिय है। भजन के विघ्नों का सामना करने में शूरवीरता, आत्मतेज, स्वामीभाव इत्यादि कर्म उसमें स्वभाव से ही होते हैं, जो ब्राह्मणत्व प्राप्ति के कारण है। भजन में मन का कुछ–कुछ लगना, सद्गुणों का एक–एक करके हृदय में लाना, इन्द्रियों की विषयोन्मुखी प्रवाह को रोकना वैश्य का सहज कर्म है जो क्षत्रियत्व की ओर ले जानेवाला है। इस प्रकार जिस साधक से कुछ भी पार न लगता हो, निद्रा–प्रमाद और आलस्य की अधिकता से भजन न बन पड़ता हो, ऐसे शूद्र स्थिति वाले के लिए कर्म (भजन) का प्रथम चरण सेवा है। उस सेवा के प्रभाव से वह वैश्यत्व की ओर अग्रसर हो सकेगा।

चराचर जगत् ही तीनों गुणों का विकार है देवता, मनुष्य, राक्षस सभी इन तीन गुणों के अन्तर्गत ही आते हैं[5] इससे सिद्ध है कि देश–विदेश के सभी लोग भजन– प्रवेश के साथ इन वर्णों के अन्तर्गत हैं। वे लोग भ्रम में हैं जो कहते हैं कि वर्ण केवल हिन्दुस्तान में है। वस्तुतः हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी, बौद्ध, जैन, यहूदी अथवा विश्व का कोई भी प्राणी जब परमात्म स्वरूप की ओर बढ़ेगा, तब गीता के अनुसार चार वर्णों में से उसे गुणों के अनुरूप किसी–न–किसी वर्ण में आना ही पड़ेगा। चाहे आप हिन्दू ही क्यों न हों, भजन में प्रवेश शूद्र स्तर से ही होगा।

भगवान श्रीकृष्ण ने आराधना : पथ को चार श्सोपानों में विभक्त किया जिससे कमजोर मन वाला भी भगवान् तक पहुंच सकता है।, श्रीकृष्ण कहते हैं–

चेतसा सर्वकर्माठी मयि सन्यस्य मत्परः।[6]

चित्त मे सभी कर्मों को गुझ पर छोड़कर मेरे परायणा हो जाओ द्य ऐसा करने से वर्ण मिटेंगे नही बालके वर्षों से पार करने की जिम्मेदारी भगवान् पर हो जाती है।

गीतोक्त वर्ण व्यवस्था के इस विवेचन से कई महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं –

1. भगवत्प्राप्ति के उपायों का नाम है और यज्ञ जिस प्रकार किया जाता है वह कर्म है, कर्म को चार वर्णों में बाँटा गया है, न कि मनुष्यों को।
2. जो भगवत्पथ पर नहीं चलता, वह किसी भी वर्ण का नहीं है। वर्ण उसके लिए है जो कर्म करता है।
3. गीतोक्त वर्ण व्यवस्था मानसिक स्थिति पर निर्भर करती है जबकि हिन्दुओं में प्रचलित वर्ण व्यवस्था भौतिक शरीर का विभाजन मात्र है।
4. तीनों गुणों के द्वारा कर्म को चार वर्णों में बांटा गया है गुण ही ऊँचे–नीचे स्वभाव का कारण है और उसी– स्वभाव से वर्ण बनते है। वर्ण भगवान् द्वारा सृजित है। इसीलिए श्रीकृष्ण स्पष्ट कह देते हैं

"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत"[7]

सन्दर्भ

1. गीता – 3/9
2. गीता – 4/13
3. गीता – 18/43
4. गीता – 18.44
5. गीता – 18.40
6. गीता – 18.57
7. गीता – 18.62